अगर हिंदू बहुसंख्यकवाद गलत है तो बहुजनवाद कैसे सही हुआ? सवाल वाजिब है और जवाब जरूरी

आक्रामक और अपवर्जी हिंदू बहुमत की राजनीति अपने स्वभाव में बहुसंख्यकवादी और लोकतंत्र के उलट है. वहीं, वंचित बहुजन की राजनीति दरअसल गरिमा के खोज की राजनीति है और लोकतंत्र को साकार करने के उद्यम का ज़रूरी हिस्सा है.

योगेंद्र यादव

"आखिर बहुसंख्यकवाद में गलत क्या है?" प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी शायद यही पूछना चाह रहे हैं. दरअसल राहुल गांधी ने कांशीराम वाला नारा लगाया, "जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी". प्रधानमंत्री ने इसी की प्रतिक्रिया में ये सवाल किया है. ज़ाहिर है, उन्होंने कांशीराम के नारे का संदर्भ बदलते हुए उसे हिंदू बहुसंख्यकवाद के चौखटे में रखकर देखा और पीएम की राय ये है कि इस नारे का इस्तेमाल कांग्रेस पर उल्टा पड़ सकता है.

बात चाहे तोड़-मरोड़ कर कही गई और उसमें कुछ जुमलेबाजी का भी पुट था तो भी सवाल अपनी जगह एकदम खरा है और जवाब में कविता करके ऐसे सवाल को ढंका नहीं जा सकता. इस सवाल का सीधा रिश्ता जाति जनगणना को मिले इंडिया गठबंधन के समर्थन से उपजे राजनीतिक विवाद और उस हिंदू-वर्चस्ववाद से है जिसकी भारतीय जनता पार्टी (बीजेपी) पैरोकारी करती है और इंडिया गठबंधन विरोध. ज़ाहिर है, इस सवाल पर खूब जतन के साथ सोचना-विचारना और सीधा जवाब देना बनता है.

गौर करें कि यहां दो दावे हैं और उन्हें वज़न में एक-दूसरे के बराबर ठहराया जा रहा है. पहले दावे का रिश्ता अस्मिता की राजनीति से जुड़ा है, जिसमें एक है जाति को आधार बनाकर की जाने वाली वाली राजनीति और दूसरी है धर्म को आधार बनाकर की जाने वाली राजनीति. ऐसे में सवाल बनता है कि आखिर समुदायगत पहचान को आधार बनाकर की जाने वाली राजनीति के इन दो रूपों में कौन किससे बेहतर है? अगर हम सांप्रदायिकता के विरोध में हैं तो हम जातिवाद का समर्थन कैसे कर सकते हैं? दूसरे दावे का रिश्ता बहुसंख्यवाद के दो रूपों से है: एक का आधार है बहुजन समाज का संख्या-बल (अनुसूचित जाति + अनुसूचित जनजाति + अन्य पिछड़ा वर्ग) और दूसरे का आधार है हिंदुओं का संख्याबल. अगर हिंदू बहुसंख्यकवाद भारतीय लोकतंत्र के लिए खतरा है तो बहुजन समाज का बहुसंख्यकवाद भारत के लिए कैसे सही हो सकता है?

दोष पहचान की राजनीति का नहीं

पहला सवाल यानी पहचान की राजनीति का मसला लंबे समय से उदारवादी और प्रगतिशील खेमे के विचारकों को परेशान करता रहा है. इनका तर्क है कि लोगों को किन्हीं मुद्दों और हितों के आधार पर लामबंद करना तो ठीक है, लेकिन लामबंदी के लिए लोगों की जन्मगत पहचान को आधार बनाना खतरनाक है. यह तो लोगों के भीतर भावावेग जगाने वाली बात हुई और भावावेग युक्तिसंगत नहीं होते, उनके आगे बुद्धि का जोर नहीं चलता. मतलब, एक बार बोतल से जिन्न बाहर निकला तो फिर उसे फिर से बोतल में बंद करना नामुमकिन है. समझ के इस चश्मे से देखें तो मंडल की राजनीति भी उतनी ही बुरी है जितनी कि मंदिर की. इन दोनों में से किसी एक का समर्थन करना और दूसरे का विरोध करना सिर्फ राजनीतिक अवसरवाद है. समझ की इस लीक पर आगे आपको ऐसे ही तर्क मिलते रहेंगे.

इस समझ में, लेकिन एक दिक्कत है. इसमें 'पहचान की राजनीति' को राजनीति की एक खास विकृति मान लिया गया है, जबकि ऐसा है नहीं. पहचान के मौजूदा रूपों को सामने लाना या नई पहचान गढ़ना लोकतांत्रिक राजनीति का सार-तत्व है. इसमें सिर्फ जातिगत, धर्मगत या नस्लगत लामबंदी ही शामिल नहीं बल्कि महिलाओं, क्षेत्रों और राष्ट्रों को आधार मानकर लामबंदी करना भी शामिल है. 'पहचान' प्रदत्त नहीं होती. राजनीति का मतलब होता है लोगों को ऐसे एकजुट करना की वे एक समुदाय के रूप में सामने आएं. इस प्रक्रिया में राजनीति किसी पहचान को विशिष्ट बताने के लिए कभी उसके इर्द-गिर्द लकीर खींचती है तो कभी पहले से मौजूद लकीरों को मिटाती भी है. यह बात जितनी दलित-जन या हिंदुओं की राजनीतिक लामबंदी पर लागू होती है उतनी ही किसानों या छात्रों को लामबंद करने की कोशिशों पर भी.

तो, समस्या पहचान-मूलक राजनीति में नहीं बल्कि ऐसी राजनीतिक लामबंदी के संदर्भ और स्वभाव में है. हमें ऐसी किसी भी पहचान-मूलक राजनीति से सावधान रहना चाहिए जो अपने स्वभाव में आक्रामक और अपवर्जी (एक्सक्लूजनरी) हो यानी ऐसी राजनीति जो अपने इर्द-गिर्द कठोर रेखाएं खींचती हो, बंटवारे की इन रेखाओं को गहरा करने के लिए नफरत की आग भड़काती हो और जिस राजनीति के साथ हिंसा और उपद्रव के भड़क उठने की आशंका लगी रहती हो. इन तमाम कसौटियों को आधार बनाकर देखें तो ज़ाहिर हो जाएगा कि धर्म की बुनियाद पर राजनीतिक लामबंदी करना भारत में पहचान-मूलक अन्य किसी भी तरह की राजनीति से कई गुना ज्यादा खतरनाक है. जो समाज अपने रग-रग और रेशे-रेशे में धार्मिक है वहां धार्मिक समुदायों के बीच बंटवारे की रेखा बड़ी गहरी और अपवर्जी होती है. सांप्रदायिक विभाजन, देश के बंटवारे के वक्त भड़की हिंसा और उसके बाद के समय में हुए दंगों के इतिहास को देखते हुए ये बात बेखटके कही जा सकती है कि

धर्म को आधार बनाकर भारत में कोई लामबंदी होती है तो उसके साथ हिंसा का खतरा हमेशा लगा रहेगा. इसमें कोई शक नहीं कि सांप्रदायिक लकीर पर हिंदुओं (और बहुधा मुसलमानों तथा सिखों) को लामबंद करने के लिए बड़ी बेहयाई से नफरत भड़काने का काम किया गया है. इन्हीं कारणों से लोकतांत्रिक राजनीति, जाति आधारित विभाजनों पर तो नकेल कसने में समर्थ रही है, लेकिन धर्मगत विभाजनों को काबू कर पाने में वह सफल नहीं हो पाई है. इस कारण सांप्रदायिक राजनीति एक अलग ही शय बनकर उभरी है और वह देश की एकता-अखंडता के लिए आज सबसे बड़ा खतरा है. ऐसा कोई तरीका नहीं कि सांप्रदायिक राजनीति को जातिगत लामबंदी के समान ठहराया जाए. हां, 'जातिवाद' जैसे फर्ज़ीवाड़े के शब्द का कोई इस्तेमाल करे तो अलग बात है: यह शब्द तो दो-अर्थी है, इससे जातिगत दंबगई के अर्थ निकलते हैं तो जाति आधारित सामाजिक गैर-बराबरी के खिलाफ संघर्ष के भी.

लेकिन फिर इसी से जाति-आधारित लामबंदी की राजनीति के लिए सावधानी के भी सबक निकलते हैं. बहुजन समाज के कुछ नेताओं और बुद्धिजीवियों में एक खास प्रवत्ति यह दिखती है कि वे जातियों के इर्द-गिर्द विभाजन की गहरी रेखाएं खिंचते हैं और ऐसे में वे —लिंगगत, वर्गगत और दरअसल तो अनुसूचित जाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के भीतर मौजूद जातिगत गैर-बराबरी तथा वंचना की स्थितियों की पहचान नहीं कर पाते. हमें ऐसी अपवर्जी भाषा के इस्तेमाल की प्रवृत्ति से भी बचना है जो बड़ी आसानी से जातिगत वैमनस्य की भाषा में बदल जाती है. कभी-कभार ऐसा भी होता है कि आप ब्राह्मणवाद की आलोचना करते-करते ब्राह्मणों की आलोचना करने पर उतर आते हैं और फिर देश में कुछ इलाके ऐसे हैं, मिसाल के लिए बिहार में जहां जातिगत लड़ाइयों का इतिहास रहा है. ऐसी जगहों पर जातिगत लामबंदी हिंसा-भड़काऊ साबित हो सकती है.

असली बहुसंख्यक और उनकी जायज मांग

जहां तक बहुसंख्यकवाद का सवाल है, हमें बहुसंख्यकों के शासन और अत्याचार के बीच फर्क करना चाहिए. बेशक आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति इस सिद्धांत को स्वीकार करके चलती है कि राजनीतिक रूप से जिसका बहुमत है, शासन उसी का हो, लेकिन,इस सिद्धांत के साथ कुछ शर्तें भी जुड़ी हैं. अव्वल तो यही कि शासन उनका हो जो राजनीतिक रूप से बहुसंख्यक हैं न कि जो अपने जन्म के आधार पर बहुसंख्यक है. जो जमात राजनीतिक रूप से बहुसंख्यक है उसका हिस्सा बनने की संभावना के द्वार सबके लिए खुले होने चाहिए. किसी के लिए भी ये दरवाज़ा हमेशा के लिए बंद नहीं किया जा सकता. जाति की राजनीति ने बहुसंख्यक के निर्माण की ढेर सारी संभावनाएं गढ़ी हैं और इसके समीकरण तैयार किये हैं — 'बहुजन' या फिर अहिंदा (एएचआईएनडीए)

या अजगर(एजेजीएआर) अथवा दलित-ब्राह्मण-मुस्लिम गठजोड़ बहुमत-निर्माण के कुछ ऐसे ही समीकरण हैं. धार्मिक लामबंदी के भीतर (खासकर वह जो हिंदू-मुस्लिम का भेद पैदा करती है) ऐसी संभावना नहीं, ऐसा विभाजन बहुसंख्यक के निर्माण में किसी एक धार्मिक समुदाय का स्थायी अपवर्जन करता है.

दूसरी बड़ी शर्त है कि लोकतंत्र बेशक बहुसंख्यक के शासन के सिद्धांत को मानकर चलता है, लेकिन यह शासन अपने आप में परम नहीं होता कि उसके जी में जो आए सो करे. ऐसे शासन को कुछ निश्चित मर्यादाओं का पालन करना होता है. बहुसंख्यक के शासन का मतलब ये नहीं कि वह अल्पसंख्यकों से उनके मौलिक अधिकार और हकदारियां छिन ले क्योंकि ऐसा जब भी होगा, अल्पसंख्यकों के पास ऐसा कोई कारण ही नहीं बचेगा कि वे बहुसंख्यक के शासन को स्वीकार कर पाएं. इसी कारण हमारे संविधान में किसी भी अन्य लोकतांत्रिक संविधान की तरह धार्मिक, भाषायी तथा जाति-आधारित अल्पसंख्यकों के कुछ अनिवार्य अधिकार तय किए गए हैं. हिंदू बहुसंख्यकवाद की राजनीति के साथ दिक्कत ये है कि वह धार्मिक अल्पसंख्यकों को इन अधिकारों जैसे धर्म-विश्वास मानने की स्वतंत्रता, कानून के आगे बराबरी के बर्ताव और यहां तक कि समान नागरिकता के अधिकार से वंचित करना चाहती है. यह बहुसंख्यक का शासन नहीं बल्कि बहुसंख्यक का अत्याचार कहलाएगा. जाति की राजनीति, अपने घटिया से घटिया रूप में भी अगड़ी जाति के हिंदुओं को दोयम दर्जे का नागरिक बनाने की मांग तो नहीं ही कर सकती.

और इस सिलसिले की आखिरी बात ये कि बेशक लोकतंत्र में शासन बहुसंख्यक का ही होता है, लेकिन यह बहुसंख्यक हर चीज़ पर दावा नहीं ठोक सकता, उसे चीज़ों के बंटवारे में उनके अनुपात का ध्यान रखना होता है ताकि वे सबको समुचित मात्रा में मिलें. जो बहुजन है उन्हें सत्ता और अवसर उसी अनुपात में मिले जिस अनुपात में आबादी में उसकी हिस्सेदारी है — भले ही ये एक अनगढ सिद्धांत लगे, लेकिन यह सिद्धांत लोकतंत्र की बुनियादी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, लेकिन जब उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ 80-20 की बातें करते हैं तो वे ये नहीं कह रहे होते कि राज्य के 80 फीसद संसाधन राज्य की 80 फीसद आबादी वाले तबके को मिले बल्कि वे सूबे की शेष 20 फीसद आबादी को संसाधनों में हिस्सेदारी से बाहर करने की बात कर रहे होते हैं. जाति-जनगणना पर प्रधानमंत्री की प्रतिक्रिया में भी कुछ ऐसे ही संदेश छिपे हैं.

हिंदू बहुसंख्यकवाद के दावे और बहुजन बहुसंख्यकवाद के दावे के बीच यही बुनियादी फ़र्क है. इन दोनों ही तरह के बहुसंख्यकवाद में समवर्ती सामाजिक समूह मिल जाएंगे: बहुजन में बहुतायत हिंदू हैं और फिर बहुतायत हिंदू, बहुजन हैं. फिर भी, इन दोनों की राजनीति में बुनियादी फ़र्क है. बहुजन की राजनीति है छिपे हुए बहुसंख्यक को सामने लाना और ऐसा करने के लिए उन लोगों के बीच एकता के सूत्र जोड़ना जो ज़ाहिर तौर पर वंचित हैं, जिनकी न सत्ता में वैसी हिस्सेदारी है और न ही संसाधनों और अवसरों में वैसी भागीदारी जितनी कि आबादी में उनकी हिस्सेदारी. और यह कोई बैठे-ठाले धारणा बना लेने का मसला नहीं बल्कि एक कठोर तथ्य है. भारत में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ा वर्ग के लोग एक साथ मिलाकर देश की आबादी में 70 से 75 प्रतिशत के बीच हैं. फिर भी, हमारे सार्वजनिक जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जिसके संसाधनों में इस बड़े तबके की 50 फीसद की भी हिस्सेदारी हो. दूसरी तरफ अगड़ी जाति के हिंदू हैं जिनकी तादाद देश की आबादी में 20 प्रतिशत या इससे भी कम है, लेकिन ये लोग सत्ता के 50 से 80 प्रतिशत पदों पर काबिज़ हैं. बहुजन हर चीज़ पर अपना नियंत्रण कायम करने की बात नहीं करते. अगर ये तबका ऐसा करता है तो उसका दावा बहुसंख्यकवादी हो जाएगा. फिलहाल की स्थिति में बहुजन की बहुसंख्या तो है, लेकिन याद रहे कि यह वंचितों की बहुसंख्या है जिसकी मांग है कि उसे पहचान मिले, गरिमा मिले और जितने पर उसका हक है कम से कम उतना तो मिल जाए.

इस बहुजन बहुसंख्यक के दावे की तुलना उन हिंदुओं के दावे से नहीं की जा सकती जो अपनी कल्पना के जोर से ये मान बैठे हैं कि हाय! हमें तो सार्वजनिक जीवन के किसी भी हलके में हमारा पूरा हिस्सा ही नहीं मिल रहा (यानी 80 फीसद से कम मिल रहा है). इसके अलावा ध्यान ये भी रखना चाहिए कि अगड़ी जाति के हिंदुओं का एक छोटा सा हिस्सा अपने को हिंदू बहुसंख्यक न बताने लग जाए. दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत बहुसंख्यकों ने संसाधनों पर बहुसंख्यक होने के नाते अपना दावा ठोका तो उनका ये दावा बहुसंख्यकवादी नहीं था, बल्कि वे सिर्फ लोकतंत्र में अपना वाजिब हिस्सा चाह रहे थे. इसी तरह अगर वंचित-जन की बहुसंख्यक और छिपी हुई जमात संसाधनों में अपना आनुपातिक हिस्सा मांगती है तो इसकी तुलना सत्ता पर चरम नियंत्रण चाहे रहे उस आक्रामक और अपवर्जी जमात के दावे से नहीं की जा सकती जो पहले से ही शक्ति-संपन्न है. आक्रामक और अपवर्जी हिंदू बहुमत की यह राजनीति अपने स्वभाव में बहुसंख्यकवादी और लोकतंत्र के नियमों के उलट है. वहीं, वंचित बहुजन की राजनीति दरअसल गरिमा के खोज की राजनीति है और इस नाते लोकतंत्र को साकार करने के उद्यम का यह ज़रूरी हिस्सा है. हमें गरिमा को दबंगई का पर्याय मानकर नहीं चलना चाहिए.